चतुर्थ अध्याय
राजेन्द्र यादव का योगदान

चतुर्थ अध्याय : राजेन्द्र यादव का योगदान

- **पत्रकारिता के क्षेत्र में योगदान**
- **हंस के विकास में योगदान**

चतुर्थ अध्याय : राजेन्द्र यादव का योगदान

पत्रकारिता के क्षेत्र में योगदान

बीसवीं सदी के आखिरी दो दशकों एवं इक्कीसवीं सदी के शुरुआती दो दशकों की हिंदी पत्रकारिता की जब भी बात होगी, उसमें राजेन्द्र यादव जी के कथा मासिक पत्रिका 'हंस' की चर्चा जरूर होगी और आजादी के बाद के हिंदी कथा-साहित्य से राजेन्द्र यादव जी को बेदखल कर सकना किसी के लिए भी शायद सम्भव नहीं होगा। राजेन्द्र जी जितने हैं मुकम्मल हैं। उनके जैसा नीर-क्षीर विवेकी लिख्खाड़ संपादक पिछले तीस-पैतीस वर्षों में कोई दूसरा तो नहीं दिखा है, निर्भीकता में भी उनका कोई सानी नहीं है। उनको हिंदी साहित्य का 'द ग्रेट शो मैन' भी कहा जाता है।

'नई कहानी' आंदोलन के प्रवर्तक, वरिष्ठ कथाकार, कालजयी उपन्यास 'सारा आकाश' के रचनाकार, 'हंस' कथा पत्रिका के संपादक और प्रसार-भारती बोर्ड के सदस्य श्री राजेंद्र यादव जी ने 'नई कहानी' को खूब सजा-संवारकर उसे नयारूप देकर भाषायी स्तर पर अत्याधुनिकता का बोध कराकर, आने वाले कथाकारों की लेखनी के लिए एक नई सड़क तैयार की है। 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग', 'शह और मात', 'कुलटा', 'अनदेखे अनजाने पुल' व 'मन्त्रविद्ध' जैसे उपन्यास रहे हों या 'देवताओं की मूर्तियाँ', 'खेल खिलौने', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'किनारे से किनारे तक', 'टूटना' 'ढोल अथवा 'वहाँ तक पहुँचने की दौड़' जैसे अनेक कहानी संग्रह और कई कहानियों के माध्यम से हिंदी साहित्य में एक नया आयाम लाने का श्रेय भी राजेन्द्र जी को जाता है। 'एक दुनिया : समानान्तर', 'कहानी : स्वरूप और संवेदना', 'कहानी : अनुभव और अभिव्यक्ति', 'उपन्यास : स्वरूप और संवेदना', 'औरों के बहाने' या 'काँटे की बात' के अनेक खण्ड, जब भी छपे प्रायः चर्चित ही रहें। उनकी कहानी 'जहां लक्ष्मी कैद है' में बूढ़ी होती हुई जवान बेटी की आंतरिक पीड़ा का एक मार्मिक दस्तावेज है। उनके लेखन का तीखा असर सीधे-सीधे चल कर भीतर तक प्रवेश कर लेता है।

राजेंद्र यादव जी की कहानियों में कथानक प्रायः आधुनिक यथार्थ से जुड़े हैं। अतः वे जीवन से भी जुड़े हैं। एक आलोचक की धारणा है कि समाज ने इस मध्य जो करवट ली, उसकी धड़कन की प्रतिध्वनि की नब्ज पकड़कर एक नवीन चेतना के साथ उस जिम्मेदारी को उठाने में आप सफल रहे हैं। वस्तुतः राजेंद्र जी की कहानियों में इस परिवर्तित होते हुए रूप की व्यंजना बड़ी रोचक और प्रवाहमयी ढंग से की गयी है। उनके कथानक जीवन संघर्ष और विषमताओं के चित्र उतारने में बेजोड़ हैं। साथ ही अधिकतर कहानियां नारी की करुण स्थिति से है। परिणामतः ये कहानियां कहीं तो धार्मिक, कहीं सामाजिक और कहीं नैतिक बंधन तोड़ती भी दिखाई देती है। इनकी कहानियों में कहीं विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त शोषण के प्रति अत्यधिक आक्रोश है और उसका व्यंगात्मक रूप में पर्दाफाश किया गया है। इनकी कहानियां संबंधों की टूटन, अजनबीपन, फालतू होने का बोध, तनाव जैसी विषम स्थितियां और सामाजिक विकृतियों का भी विश्लेषण दिखाई देता है।

नयी कहानी का उद्देश्य परंपरागत ढंग से ढूढ़ना सहज संभव नहीं हैं क्योंकि वह जीवन के चारों तरफ केन्द्रित है। यह तो पूर्णतः स्पष्ट है कि राजेंद्र यादव जी की कहानियां महानगरीय जीवन जटिलताओं से जुड़ी है और यथार्थ पर आधारित है, पर यह भी सत्य है कि उनमें व्यक्ति की जिन कुंठाओं, अजनबीपन, घुटन आदि का चित्रण हुआ है। उसका अधिकांश भाग पात्राधारित है– पात्र ही उसके लिए जिम्मेदार हैं, परिस्थितियां भी थोड़ी बहुत जिम्मेदार हो सकती है पर यदि परिस्थितियों से समझौता कर लिया जाए तो पात्र को शायद उतनी कठिन स्थिति में न जाना पड़े, जितनी में वह जी रहा है। लेखक उसी आदर्श स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता है। यही आज की स्थितियों में वांछित भी है। इसी तथ्य को लक्ष्य करके एक आलोचक की मान्यता है कि उनकी रचनाओं में अपना एक व्यक्तित्व और दृष्टि हम पाते हैं। ऐसा लगता है कि आज महानगरीय सड़ी-गली संस्कृति में फंसे मानव को वे प्रेरणा दे रहे हैं। "अपनी कृतियों के अलावा भी आंदोलनधर्मी रहे राजेन्द्र यादव की चर्चा का ज्वार कभी थमा नहीं। कभी 'नई कहानी' की वजह से तो कभी हिंदी में दलित लेखन की पक्षधरता के कारण वे लगातार शेष हिंदी जगत के निशाने पर रहे हैं, जबकि सच शायद यह ज्यादा है कि जैनेन्द्र-अज्ञेय से लेकर विद्यानिवास मिश्र,

निर्मल वर्मा, धर्मवीर भारती, अशोक वाजपेयी और नामवर सिंह तक न जाने कितने लोग उनके निशाने पर रहे हैं। और तो और, उन्होंने नन्हे-नन्हे खरगोशों तक का शिकार करने में कभी संकोच नहीं किया और न 'हन्यते' का मंत्र जपते-जपते सबको प्राय: हन-हन कर मारते रहे हैं। मारा है, और खुद भी बहुत मारे गये हैं, लेकिन तारीफ करनी होगी कि जिन्हें मारा, वे भी और जिन्होंने इन्हें मारा, वे भी राजेंद्र यादव से किनारा प्रायः नहीं कर सके, इसके पीछे शायद बहस और संवाद को लगातार चलाए रखने की उनकी कभी न खत्म होने वाली इच्छा ही सक्रिय रही है।"1

राजेंद्र यादव जी के उपन्यासों में उस मध्यवर्गीय साधारण व्यक्ति की तस्वीर है जो अपनी अतृप्त लालसाओं और कुछ बनने की महत्वाकांक्षाओं के कारण परिस्थितिओं से टकराता है, किन्तु उन का चक्रव्यूह तोड़ नहीं पाता है। अपने आदर्शों एवं मूल्यों के साथ समझौता करके मजबूरन स्थिति को जीने के अलावा उसके पास कोई दूसरा रास्ता नहीं है। वस्तुतः उन्होंने जीवन के बाह्य स्वरुप के अवलोकन मात्र के आधार पर ही नहीं, अपितु उसकी गहराई में बैठ कर भोगे हुए यथार्थ अनुभव के आधार पर अपने उपन्यासों का सृजन किए है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में चित्रित पात्र एवं घटनाएँ जीवंत और हमारे आस-पास के प्रतीत होते हैं। यह कार्य लेखक के साथ एक पत्रकार के ही विचार में आ सकते है। उनके उपन्यास मध्यवर्गीय व्यक्ति के दुःख-दर्द, संघर्ष-पराजय, घुटन-कुंठा, विवशता-परवशता, आकांक्षा-आशंका पूर्ण जीवन के अंधकारमय वर्तमान तथा आशाहीन भविष्य के मूल कारणों की खोज करते हुए तत्कालीन व्यवस्था की विसंगतियों तथा विडम्बनाओं को उद्‌घाटित करने के साथ-साथ उसके लिए जिम्मेदार शक्तिओं के विरूद्ध खड़े होकर निरंतर संघर्ष करने की भी प्रेरणा देते हैं। "नये से नये लेखक-पाठक से मिलना, उसकी बात सुनना और सम्भव हो तो उसके संतुष्ट करना राजेन्द्र यादव का शगल रहा है। भारत और भारत से बाहर के जितने लेखकों पाठकों को राजेन्द्र यादव ने चाय पीते-पिलाते तृप्त किया है, हिंदी का कोई दूसरा लेखक-संपादक शायद ही कर सका हो। उनकी जैसी अड्डेबाजी विष्णु प्रभाकर ने ही की है, लेकिन चर्चा-परिचर्चा के अनवरत चक्र में राजेन्द्र यादव उन्हें बहुत पीछे छोड़ चुके हैं और यह सिलसिला अभी थमा नहीं है। न थमे, यही

कामना है, क्योंकि नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव, ज्ञानरंजन और अशोक वाजपेयी जैसों की उपस्थिति भर हिंदी के साहित्य-परिदृश्य को जवान और ऊर्जावान बनाए रखने का काम करती है। डॉ. रामविलास शर्मा, भीष्म साहनी, विनोद कुमार शुक्ल, कामतानाथ, गिरिराज किशोर और संजीव जैसे रचनाकार सिर्फ अपने काम में तल्लीन रहते हैं, जबकि राजेन्द्र यादव जैसे लोग अपने कम, दूसरों के काम ज्यादा करते हैं। कुछ का काम तमाम भी करते हैं।"2

जहां एक ओर लघु पत्रिकाएं अपने अस्थाई व्यक्तित्व के साथ उभरती हैं और धनाभाव तथा अन्य प्रयोगात्मक परेशानियों के कारण प्रकाशन अवरोध प्राप्त करती हैं या अल्पायु होकर विलीन हो जाती हैं, वहीं 'हंस' अपने संपूर्णता, रचना विशिष्टता और दिलकश कलेवर के लिए लोकप्रिय होता जा रहा है। 'हंस' की कहानियों को पढ़कर कई बार कई प्रश्न खड़ा हो जाते हैं। उनमें प्रकाशित नाम जहां कुछ एक चर्चित होते हैं, वहीं कुछ एक पूर्णतया नए और अचर्चित भी। 'हंस' नये कथाकारों के साथ-साथ स्थापित लेखकों के लिए भी अपनी बात कहने का एक सशक्त मंच है, जिसे राजेन्द्र यादव जी ने अपने अनथक प्रयासों से लगभग सत्ताईस वर्षों तक सँभाले थे।

पत्रकारिता के क्षेत्र में राजेन्द्र यादव जी के योगदान को समर्पित कुछ पंक्तियाँ -

"'हंस' छोड़कर हंस अकेला चला गया।
तूने ही उड़ना सिखलाया, नीर-क्षीर का ज्ञान कराया।
वंचित-पीड़ित की वाणी बन, अंधियारे में पंथ दिखाया।
कथा-जगत का 'हंस' कहाँ तू चला गया?,
'हंस' छोड़कर हंस अकेला चला गया।
मेरी तेरी उसकी बात, अब कौन करेगा?
दुखदायी झंझावातों को, अब कौन सहेगा?
एक इंच मुस्कान में सारा आकाश समेट लिया,
'हंस' छोड़कर हंस अकेला चला गया।
मुड़-मुड़ के देखता हूँ, जब छोटे-छोटे ताजमहल

लगता है जाना पहचाना, अनदेखा अनजाना पुल
शह और मात बीच जीवन सारा खेल गया
'हंस' छोड़कर हंस अकेला चला गया।"3

गाँव-कस्बे का कोई भी साहित्यकार अगर दिल्ली आता था तो राजेन्द्र जी का दफ्तर एक ऐसी जगह थी जहां वह स्वाभिमान के साथ जा सकता था और चर्चाएं कर सकता था।

पोंगापंथ को मुँह चिढ़ाने वाली आधुनिकता, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय, लैंगिक बराबरी, नए और अस्थापित लोगों को अवसर देना, यथास्थिति को तोड़ना, मठों को घुटने टेकने को मजबूर करना - राजेन्द्र यादव जी को आप इन शब्दों में डिफाइन कर सकते हैं। हिंदी के प्रतिष्ठित साहित्यकार, संपादक, अल्पसंख्यकों, दलितों और महिलाओं के हक के लिए लड़ने वाले, साहित्य के क्षेत्र में बेहद जिंदादिल और पारदर्शी इंसान थे। राजेन्द्र यादव जी के प्रशंसकों की कतार धर्म, जाति, लिंग, भाषा व क्षेत्र के बंधनों से परे थी।

कबीर की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले और आधुनिक भारत के सबसे बड़े साहित्यकार राजेन्द्र यादव जी नहीं रहे। भारत में राजेन्द्र यादव जी को आधुनिक समय का सबसे बड़ा 'पब्लिक इंटेलेक्चुअल' कहा जा सकता है। पश्चिम की विचार परंपरा से तुलना करें तो राजेन्द्र यादव को वाल्तेयर से लेकर एंटोनियो ग्राम्शी और नोम चोमस्की की परंपरा में गिना जाएगा। भारतीय हिसाब से वे कबीर और रैदास की परंपरा में हैं। उत्तर भारत में राजेन्द्र यादव जी एकलौते साहित्यकार थे जिनसे ऑटोग्राफ लिया जाता था। किसी भी साहित्यकार को इससे पूर्व सुपरस्टार वाली यह हैसियत नहीं मिली। इस श्रेणी में दूसरा नाम गुलज़ार साहब का आता है जिनके ऑटोग्राफ मांगा जाता है, लेकिन उनकी ख्याति में फिल्मों का एडेड एडवांटेज है।

राजेन्द्र जी का पत्रकारिता के क्षेत्र में योगदान के बारे में बताने के लिए उनकी ही पुस्तक के कुछ उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है, 'मैं हंस नहीं पढ़ता' में एक लेख है - 'पीड़ा के दावेदार'। इसमें उन्होंने दलित लेखकों की तरफ़दारी करने के साथ ही यह संदेश दिया है -

"दलित लेखकों को इस पर भी विचार करना होगा कि उनका लेखन सिर्फ आत्माभिव्यक्ति का सुख नहीं है, एक संघर्ष और आंदोलन का हिस्सा भी है। वह सिर्फ पीड़ा को कहकर उससे मुक्त (शास्त्रीय शब्दावली में 'विरेचित') हो जाना ही नहीं, उस पीड़ा को अपनों में बाँटकर सामूहिक मुक्ति का सपना भी है। सवाल ये भी है कि इसी वर्ण व्यवस्था को बनाए रखकर क्या दलितों का संघर्ष खुद सवर्णों जैसा सम्मानित हो जाने तक जाता है या सारी व्यवस्था को ही बदलने की बात सोचता है? भूलना यह भी नहीं चाहिए कि उनका सवर्णों की तरह सम्मानित और सत्तावान बनना, दूसरे 'नए दलितों' को जन्म देना है - जो जितने अपनों में से होंगे उतने ही उन अपनों से बाहर- यही नहीं, सवर्ण बनने की आकांक्षा उन्हें ठीक उन्हीं कर्मकांडों और धार्मिक ढकोशलों में ढकेल देगी जो उनकी अपनी समझ से असली सवर्णों की शक्ति है। लालू, मुलायम और मायावती 'नए सवर्ण' नहीं तो क्या हैं? अगर आज राम को हटाकर घर-घर में बुद्ध या अंबेडकर की मूर्तियाँ पूजी जानी लगें तो अब तक के पूजनीय राम क्या अधिकार-वंचित होकर चुप बैठे रहेंगे?- ये 'नए दलित' किसी रणनीति का सहारा तो लेंगे ही..."4

दलित साहित्य की आलोचना से थोड़ा भिन्न दृष्टि उनकी स्त्री साहित्य के प्रति है। वे लिखते हैं -"प्रारंभिक लड़खड़ाहट के बाद स्त्री लेखन इसलिए हमारे अधिक निकट है कि वह हमारी ही भाषा, शैली, टेकनीक में अपनी बात कहता है। स्त्री ठीक हमारी ही कलात्मकता के साथ 'शेष कादंबरी' (अलका सरावगी) और 'तिरोहित' (गीतांजलिश्री) भी लिख सकती है तो कात्यायनी की कविताएँ या 'कस्तूरी कुंडल बसै' (मैत्रेयी पुष्पा) जैसी ठेठ स्त्री चेतना से उपजी अलग रचनाएँ भी। मगर अधिकांश स्त्री रचनाएँ अपने आपको स्थगित करके ठेठ पुरूष मानसिकता और मूल्यों के आत्मसातीकरण से आती हैं। 'कलिकथा वाया बाईपास' (अलका सरावगी) की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा के पीछे ये शाबाशी देने की भावना भी है कि स्त्री होने के बावजूद उसने पुरुषों की कलात्मकता को साधा है। यह स्त्री के अपने हस्ताक्षर न होने या स्वयं उसकी अनुपस्थिति की प्रशंसा है।"5

'काश मैं राष्ट्रद्रोही होता' की भूमिका 'जो जैसा है वह मुझे वैसा ही स्वीकार नहीं है' के अंत में उन्होंने लिखा है - "मुझे यह स्वीकार करने में भी कोई संकोच नहीं है कि मैं

स्कॉलर नहीं हूँ। हाँ, मैंने समय के संदर्भों में बातों को अपनी तरह कहने की कोशिश जरूर की है - बेबाक और दुस्साहसी होकर। असहमतियाँ और गालियाँ मेरी जीवनी शक्ति हैं।

मित्र मुझे हिंदी का खुशवंत सिंह कहते हैं। स्त्री-विजय की वैसी शेखियाँ मैंने कभी नहीं मारीं। मेरा वह क्षेत्र भी नहीं है। हाँ, अगर तुलना ही करनी हो तो मैं नीरद सी. चौधरी के साथ होना पसंद करूँगा। सही है कि उनकी साम्राज्यवादी प्रतिश्रुतियों से मेरा आधारभूत विरोध है, मगर वे सच्चे अर्थों में प्रखर बुद्धिजीवी हैं - यानी मूर्तिभंजक।"6

इस आत्मस्वीकृति से राजेन्द्र यादव जी के व्यक्तित्व का पूरा परिचय मिल जाता है। वे अपनी बातों को बेबाक, वर्जनामुक्त, उन्मुक्त और कुंठारहित ढंग से किया है, हिंदी साहित्य में शायद ही कोई लेखक ऐसा किया हो। इस सम्बंध में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि राजेन्द्र यादव जी ने यदि 'और बहुत कुछ' न भी किया होता, केवल 'अक्षर' और 'हंस' (समग्रतः 'हंसाक्षर') के प्रतिष्ठाता भर रहे होते, तो भी वह साहित्य को अमूल्य और अविस्मरणीय योगदान होता।

राजेन्द्र यादव जी की एक और खूबी पर गंभीरता से ध्यान दिया जाना अभी बाकी है, उनकी कथालोचन की क्षमता थी। उनके पास अच्छी-बुरी कथाकृतियों के बीच अंतर करने का अद्‌भुत विवेक था। उन्होंने 'एक दुनिया समानांतर' में जिन रचनाओं का चयन किया और उनकी जैसी भूमिका लिखी वह रचनाओं की उनकी पहचान और कथा-समीक्षा का एक सुनिश्चित मार्ग प्रस्तावित करने की उनकी क्षमता दोनों का प्रमाण है। यही नहीं 'अट्ठारह उपन्यास' पुस्तक में संकलित उनके समीक्षा-लेख भी उनके समीक्षक की सामर्थ्य का साक्ष्य हैं। विशेष रूप से 'चंद्रकांता संतति' पर उन्होंने जो लम्बा विवेचनात्मक लेख लिखा था, वह गुजरे जमाने की रचनाओं को पढ़ने का, उनमें अंतर्निहित आशयों को खोज निकालकर उनकी समयातीतता को प्रस्तावित करने का एक अत्यन्त गंभीर प्रयास था। कई और उपन्यासों की भी उन्होंने बड़ी गंभीर समीक्षाएं की जिन पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया।

राजेन्द्र यादव जी के बाद आयोजित उनकी 'स्मृति सभाओं' में उनकी जिस एक विशेषता को निरपवाद रूप से याद किया गया वह था उनका सर्वजनसुलभ लोकतांत्रिक

स्वभाव-व्यक्ति और संपादक दोनों रूपों में। सहकर्मी, अधीनस्थ, नातेदार, मित्र, सामान्य परिचित किसी भी रूप में। शायद ऐसी छवि निर्मित होने का मुख्य कारण था उनका उत्सवधर्मी स्वभाव और महफ़िल जमाए रखने का शौक। इसके बावजूद वे पढ़ने-लिखने में इतना समय निकाल लेते थे तो उसका कारण था सुबह चार बजे उठ जाना।

साहित्यिक पत्रिका के योगदान की कसौटी यह है कि राजेन्द्र जी ने कितने नए रचनाकारों को जन्म दिया या अल्पज्ञात रचनाकारों, लेखकों को प्रतिष्ठित किया। 'हंस' इस क्षेत्र में किसी भी पत्रिका के लिए ईर्ष्या और स्पृहा का विषय है। मैत्रेयी पुष्पा, अर्चना वर्मा, शिवमूर्ति, संजीव, सृंजय, उदय प्रकाश, काशीनाथ सिंह, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चौहान, अजय नावरिया आदि अनेकों नाम है। जहां तक कहानी संपादन का प्रश्न है, इस क्षेत्र में उनसे बड़ा केवल एक नाम याद आता है, भैरवप्रसाद गुप्त का। नारी चेतना और दलित चेतना के क्षेत्र में राजेन्द्र जी का अग्रगण्य योगदान है। इस क्षेत्र में उनके नाम को कभी भुलाया नहीं जा सकता। इस क्षेत्र में देखें तो वे हिंदी क्षेत्र में नारी चेतना और दलित चेतना के प्रमुख एक्टिविस्ट विचारक और संपादक थे।

हंस के विकास में योगदान :

"आज हिंदी पत्रकारिता का दृश्य कुछ इस तरह का है कि सारी पत्रिकाएँ या तो राजनीतिक सनसनियों में चली गयी हैं या भंडाफोड़ किस्म की पत्रकारिता में। जो थोड़ा बहुत साहित्य था वो धीरे-धीरे बिल्कुल हाशिए पर होते-होते बाहर चला गया है। कुछ पत्रिकाओं में तो उसे बिल्कुल निकाल दिया गया है और कुछ ने सिर्फ शोभा के लिए एक या दो पन्ने रखें हुए हैं। बाकी सबमें यही छपता है कि कौन राजनेता क्या करता है और फलाना क्या करता है, क्रिकेट के खिलाड़ी क्या करते हैं? फ़िल्म वाले क्या करते हैं? बस, ये तीन-चार समुदाय के लोग ही आज की पत्रकारिता के हीरो हैं। इन्हीं से पत्रिकाएँ भरी पड़ी हैं। ऐसे माहौल में मुझे लगा कि ऐसा बहुत बड़ा पाठक वर्ग है, जिसे मैं अंग्रेजी में कहना चाहूँगा 'डिस्ग्रेस्टेड रीडर्स' वह इन सबसे बहुत खिन्न, क्षुब्ध और झुंझलाया हुआ है। उसे अगर सुरुचिपूर्ण रचना सुलभ की जा सके तो वह जरूर पढ़ना चाहेगा।"7

वरिष्ठ कथाकार राजेंद्र यादव जी 1986 से लेकर 2013 तक 'हंस' का संपादन किये जो समकालीन हिंदी साहित्य की एक केंद्रीय पत्रिका है। नयी कहानी आंदोलन की विख्यात त्रयी के एक सदस्य राजेंद्र यादव जी के सरोकारों की दुनिया पिछले तीन दशकों में काफी कुछ बदली है। मध्यवर्गीय संवेदना के सामान्य धरातल से आगे जाकर एक संपादक के तौर पर उन्होंने उन क्षेत्रों और सवालों पर निगाह डाली है जिनसे हिंदी की मुख्यधारा का साहित्य आम तौर पर कटा रहा है। इस फर्क ने राजेंद्र यादव जी को महत्वपूर्ण भी बनाया है, विवादास्पद भी। राजेन्द्र जी ने 'हंस' नाम की ही पत्रिका निकालने का निर्णय क्यो लिया, उन्ही से जानते है - "मैं समझता हूं कि हमारी संस्कृतियों के स्मारक सिर्फ खँडहर, पुरानी पाण्डुलिपियाँ, चित्र-भित्तिचित्र, बर्तन या और जो कुछ खुदाई में निकाला जाता है, वही नहीं होते। हमारी संस्कृति और साहित्य के स्मारकों में हमारी वे पुरानी पत्रिकाएं, पुस्तकें, जिनका अपने समय में बहुत बड़ा योगदान रहा है और जिन्होंने पूरे एक शिक्षित वर्ग की मानसिकता को खास तरह से जानने जाग्रत करने और दिशा देने की कोशिश की है वे भी होते हैं। मैं इसे पत्रिका कहने की बजाय, परंपरा से जुड़ना कहना ज्यादा पसंद करूंगा। 'हंस' उसी परंपरा की एक कड़ी थी कथाकार होने के नाते हम अपने को प्रेमचन्द से उनकी रचनात्मक-सामाजिक दृष्टि से जोड़ा जाना पसंद करते हैं। उनका यथार्थबोध हमारे लिए... बल्कि कई पीढ़ियों के लिए बहुत बड़ी प्रेरणा रहा है। 'हंस' से जुड़ने की वजह अपने समाज को सही तरह समझने और चित्रित करने की परंपरा... बल्कि दृष्टि ही थी।"8

राजेन्द्र यादव जी के लेखकीय जीवन का निर्णायक मोड़ वह था जब उन्होंने 'हंस' का संपादन प्रारंभ किया। इससे पूर्व वह अक्षर प्रकाशन में काम कर चुके थे। 'हंस' पत्रिका का नाम प्रेमचंद के नाम से जुड़ी हुई थी। 'हंस' का संपादन एक साहसिक निर्णय था। इस निर्णय पर कई साहित्यकारों ने आशंका जताई थी। 'हंस' के नाम पर छींटाकशी भी हुई। मगर राजेन्द्र यादव जी ने अपने अद्वितीय योगदान, परिश्रम और लगन से वह कर दिखाया जैसा काम स्वातंत्र्योत्तर भारत की हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता में किसी ने नहीं किया था। अपने लेखकीय प्रभामंडल, व्यक्तिगत संबंधों और हिंदी साहित्यकारों के सहयोग के दम पर 'हंस' स्वातंत्र्योत्तर भारत की उल्लेखनीय कथा-पत्रिका बनी, जिसने अपने समय की

कथा-रचना का प्रतिनिधित्व और नेतृत्व किया। राजेन्द्र जी ने 'हंस' का पुनः प्रकाशन 1986 में आरम्भ किया। तब से लेकर अंत समय तक राजेन्द्र यादव जी खबरों में हमेशा बने ही रहते थे व 'हंस' में उनके प्राण बसते थे। वे अपनी मृत्यु के एक-दो वर्ष पहले से ही इस चिंता में रहते थे कि मेरे बाद 'हंस' का क्या होगा। वे ये चाहते थे कि वे रहें या ना रहें, लेकिन 'हंस' को रहना चाहिए, 'हंस' को निकलना चाहिए।

आज से चौतीस साल पहले (1986) में अपनी पहल और प्रयास से राजेन्द्र यादव जी ने 'हंस' की शुरुआत की थी। उनकी सूझ-बूझ और श्रम तथा आप सब लोगों के अनवरत सहयोग से अनेक अंतर्विरोधों के बावजूद आज यह हिंदी की बेहद चर्चित और प्रतिष्ठित पत्रिका बन गई। 'हंस' में राजेन्द्र यादव जी ने दो मूल मुद्दों को प्रमुखता दी थी। एक तो सामाजिक सरोकार, दूसरा नए लेखकों को निरंतर प्रेरित और प्रोत्साहित करते हुए उनके लिए मंच प्रस्तुत करना। आश्वस्त रहिए कि ये दोनों मुद्दे पहले की तरह ही जारी रहेंगे। पाठकों को 'हंस' के साथ जोड़ने वाला कालम 'अपना मोर्चा' और लेखकों को जोड़ने वाला कॉलम 'परख' तो अपनी अनिवार्यता के चलते बरकरार रहेंगे ही।

'हंस' का राजेन्द्र जी द्वारा संपादित रूप उस समय प्रकाशित होना आरम्भ हुआ जब भारतीय समाज ने गहरे, वेदनामय आत्मविश्लेषण से गुजरना आरंभ किया। इस बदले सन्दर्भ में फिर 'कौन थे, क्या हो गए, क्या होंगे' के सवाल राजनीति, समाज और साहित्य में उठने आरम्भ हो गए। आक्रामक किस्म के राष्ट्रवाद ने नई ताकत पाई और भारत-संकल्पना के 'विखंडन' - 'डिकंस्ट्रक्शन' के विविध रूपों ने भी। आदिवासी, अल्पसंख्यक और स्त्रियां समाज के वर्तमान, अतीत और भविष्य में अपनी जगह की तलाश करने लगे। आत्म-रेखांकन और आत्म-परिभाषा का दौर आरम्भ हुआ। इस दौर में अस्मिताओं की राजनीति की संभावना और समस्या दोनों उजागर होनी आरम्भ हुई। यह वेदनापूर्ण और जरूरी प्रक्रिया जारी है। कहना मुश्किल है कि नतीजे क्या और कैसे निकलेंगे। लेकिन यह तयशुदा रूप से कहा जा सकता है कि कई दशक से चली आ रही प्रक्रिया का सर्वाधिक निरंतर और प्रामाणिक साहित्यिक दस्तावेज हिंदी साहित्य में कहीं मिलेगा तो वह राजेन्द्र

यादव जी द्वारा संपादित 'हंस' में। बतौर संपादक, यह राजेन्द्र यादव जी की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

'हंस' में उनके धारदार संपादकीय जाति, धर्म, सम्प्रदाय पर बहस छेड़ते ही रहते और पढ़े जाने के लिए उकसाते। सहमति-असहमति के बीच भी पढ़े जाने की ललक और उस पर जोश-खरोश के साथ की जाने वाली बहसों से निश्चित ही साहित्य में रुचि रखने वालों का वैचारिक जगत विस्तार पाता था। 'हंस' के संपादकीय इतने विचारोत्तेजक और सामयिक होते थे कि उन्होंने हिंदी पट्टी में रह-रहकर वैचारिक उत्तेजना की लहरें पैदा की। इसलिए नई कहानी के कहानीकार के रूप में विभिन्न प्रयोगों के बाद संपादक के रूप में भी उन्होंने कम प्रयोग नहीं किए। असहमति के लिए आमंत्रित करना और उसे सुनने का स्पेस देना एक लोकतांत्रिक व्यक्तित्व के लिए ही संभव है।

राजेन्द्र यादव जी ने साहित्य में पहली बार उन दलितों-वंचितों को अपनी पत्रिका 'हंस' में सबसे महत्वपूर्ण स्थान दिया। स्त्री-लेखन को मेनस्ट्रीम के शिखर पर बिठाने का श्रेय भी उन्हें जाता है। राजेन्द्र यादव जी के नेतृत्व में 'हंस' ने भारतीय साहित्य के सामंती ठाठ को नाक रगड़ने और अभिजात्य हनक को दुम दबाकर रहने को मजबूर कर दिया। उन्होंने हिंदी साहित्य में पर्याप्त लिखा और हिंदी साहित्य को कई कालजयी कृतियाँ दीं, लेकिन मेरी नजर में 'हंस' में लिखा गया उनका संपादकीय उनके रचनात्मक लेखन पर भारी पड़ा। उन्होंने न सिर्फ साहित्य की प्रचलित दिशा को सार्थक रूप से बदलने की कोशिश की, वरन उसे गहरे रूप में उद्वेलित भी किया।

मनुष्य का जीवन भी होने या न होने की संभावनाओं से भरा! और राजेन्द्र यादव जी तो होने, न होने - दोनों को एक ही तरह से जिया करते थे। 'हंस' में 'न हन्यते' कॉलम उन्होंने इसी प्रकार का चलाया था।

राजेन्द्र यादव जी अध्यापक की नौकरी में हाथ आजमा कर, उससे मुक्ति पा चुके थे। कुछ नया करने के लिए भीतर ही भीतर कुलबुला रहे थे। संभवतः कुछ ऐसा जो 'नई कहानी' के आंदोलन से जुड़ी त्रयी के बाकी दो सदस्यों - मोहन राकेश और कमलेश्वर से अलग उनकी स्वतंत्र पहचान बनाए, उनका रुतबा कायम करे। आरम्भ उन्होंने अक्षर

प्रकाशन से किया जवाहर चौधरी के साथ। राजेन्द्र यादव जी पांडुलिपियों का चयन करते थे और जवाहर चौधरी प्रबंधन का काम देखते थे। राजेन्द्र जी के अक्षर से जुड़ने बाद अक्षर प्रकाशन से कई महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुई। उस समय के नामी गिरामी रचनाकारों को उन्होंने प्रेरित किया और बड़ी जल्दी प्रतिष्ठा बना ली। पर नियति को तो कुछ और ही मंजूर थी यहाँ भी जवाहर चौधरी से नहीं बनी। अफवाह यह फैली कि उनके कुछ तथाकथित मित्रों ने जवाहर चौधरी के कान भरकर दोनों के बीच दरार पैदा की थी।

राजेन्द्र जी उस समय स्वयं प्रतिष्ठित कथाकार थे। उनकी कई कहानियों के अलावा 'कुलटा', 'प्रेत बोलते हैं', 'अनदेखे अनजाने पुल', 'शह और मात' के अलावा 'उखड़े हुए लोग' जैसा चर्चित राजनीतिक उपन्यास भी प्रकाशित हो चुका था। उनका काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुआ, पर जल्दी ही उनकी समझ में आ गया कि उनकी प्रकृत रचना-भूमि कथा-साहित्य ही है और वे उधर लौट गए। अपने इसी रुझान के अनुकूल उनके मन में संभवतः कथा-केन्द्रित पत्रिका निकालने का विचार आया होगा। "वैसे हंस शुरू करने से बहुत पहले यह सुना गया कि मोहन राकेश के 'सारिका' का संपादन छोड़ने के बाद, राजेन्द्र जी के सामने यह प्रस्ताव आया कि वे चाहें तो 'सारिका' के संपादन का दायित्व संभाल लें। इसके माध्यम थे 'ज्ञानोदय' के तत्कालीन संपादक लक्ष्मीचन्द्र जैन, जिनसे राजेन्द्र जी की बहुत अच्छी दोस्ती कलकत्ता निवास के दौरान ही हो गई थी। लेकिन राजेन्द्र जी ने इस काम को भी करने से मना कर दिया। उनके आत्मसम्मान को किसी की छोड़ी हुई जिम्मेदारी को स्वीकार करना गवारा नहीं हुआ।"9 उपरोक्त सभी बातें इस तरफ इशारा करते हैं कि आखिर उन्होंने वर्षों पहले बंद हो चुकी पत्रिका 'हंस' से ही जुड़ने का फ़ैसला क्यों किया होगा। जो कि उसके 'कॉपीराइट' और 'रेजिस्ट्रेशन' के लिए उन्हें काफी मशक्कत करनी पड़ी थी।

सबसे बड़ी बात यह थी कि उनके पीछे न कोई प्रकाशन-गृह था और ना ही कोई व्यापारी घराना या सरकारी संस्था। उनके साथ सिर्फ था एक बड़ा नाम और पूर्व संपादक की प्रतिबद्धता। पर इसके साथ ही एक चुनौती भी नए संपादक को विरासत में मिलने वाली थी। पाठक उसमें कहीं 'प्रेमचंद की विरासत' न ढूढने लगें। यह एक संयोग ही है कि

राजेन्द्र यादव जी 'प्रेमचंद की विरासत' नाम से एक पुस्तक भी लिखी। विरासत के सवाल पर नए कहानीकार बराबर टकरा रहे थे और 'नएपन' को अपने ढंग से परिभाषित कर रहे थे। लेकिन उन्हें प्रेमचंद की परंपरा पसंद थी। इसलिए '**जनचेतना का प्रगतिशील मासिक**' होने की विज्ञप्ति हंस पर बराबर छपती। यह अलग बात है कि प्रेमचंद की 'जनचेतना' और 'प्रगतिशीलता' और राजेन्द्र यादव जी की अवधारणा में कोई समानता या क्रमबद्धता नहीं था, सिवाय समाजोन्मुखता के। और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। दोनों ने अपने समय और समाज की स्थितियों और सरोकारों के संदर्भ में अपनी वैचारिकता को ढाला था। दोनों जन की छवि जितनी उनके लेखन से बनी, उतनी ही उनके सम्पादन और वैचारिक कर्म से।

किसी पत्रिका की शुरुआत करना या 'पुनर्प्रकाशन' करना उतना कठिन नहीं होता जितना उसे सफलता की ऊँचाई तक पहुँचाकर उसे वहाँ बनाए रखना, प्रत्येक कीमत पर। राजेन्द्र यादव जी को ऐसा करने का नशा हो गया था। "आरंभिक दौर में उन्होंने कुछ यादगार कहानियाँ छापी - 'और अंत में प्रार्थना', 'कॉमरेड की कोट', 'तिरियाचरित्तर', 'मोहनदास', 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' आदि। इनके रचनाकार लिख तो रहे ही थे, पर 'हंस' में प्रकाशित होने के बाद वे जिस तरह चर्चाओं के केंद्र में आए, उससे दोनों को प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा मिली, 'हंस' को भी और रचनाकारों को भी।"10 इसके अलावा राजेन्द्र जी ने 'हंस' के सम्पादकीय लिखकर समसामयिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिदृश्य के बहसतलब मुद्दों पर रोशनी डाली। उन पर तर्क-वितर्क के लिए 'हंस' को खुला मंच बना दिया। धीरे-धीरे 'हंस' केवल कथा-साहित्य की पत्रिका न रहकर विचारोत्तेजक बहसों का माध्यम बनती गई। यह अलग बात है कि इस प्रक्रिया में दोहराव और हठधर्मी भी हुई। कई बार राजेन्द्र जी अपने करीबी साहित्यकारों को फोन करके अपने संपादकीय को पढ़ने का आग्रह करते और उस पर लोगों की प्रतिक्रिया जानते व उस पर सवाल-जवाब करते। ऐसा सब करने की शायद वजह यह रही होगी कि राजेन्द्र जी 'हंस' में अपनी शर्तों पर लिखना चाहते थे, लिखते भी थे।

"'हंस' जैसा मंच सुलभ कराने के अलावा कुछ लेखकों को उन्होंने कलम पकड़कर लिखना भी सिखाया। उनकी कमजोर रचनाओं का संशोधन किया, उन्हें प्रकाशित किया, समीक्षाएँ कराईं और लगभग बज़िद स्थापित किया। जिसमें दम था, संभावना थी वे चल निकले, कुछ लड़खड़ा कर पिछड़ गए, तो कुछ ने रास्ते में ही दम तोड़ दिया।"11 राजेन्द्र यादव जी अपने लेखन, विचारक और संपादक के रूप में लोकतांत्रिक व्यक्ति रहे और खासकर उन्होंने स्त्री रचनाकारों और दलित रचनाकारों के बीच से कई नई प्रतिभाओं को अवसर दिया व उन्हें स्थापित किया। प्राथमिकता के स्तर पर हंस को स्थापित करने के लिए उन पर यथास्थितिवादियों ने हमले भी किये। लोगों ने यह कहना शुरू कर दिया कि राजेंद्र यादव बेवजह साहित्य में आरक्षण दे रहे हैं। दलितों और स्त्रियों को आरक्षण देते हैं। और उस समय एक बड़े आलोचक ने यहां तक कह दिया था उनकी तरफ से एक जुमला आया कि साहित्य में आरक्षण नहीं चलता है जबकि राजेंद्र यादव जी इसे अवसर की तरह देख रहे थे कि रचनाकारों को जब तक अवसर नहीं मिलेगा अभिव्यक्ति का तब तक कोई सामने नहीं आ सकता और उनकी प्रतिभा निखर नहीं सकती। इस बात को उन्होंने पहचाना और अपने संपादन के लिए इसे हिस्सा बनाया। सार यह है कि हिंदी कहानी के पूरे परिदृश्य को नियमबद्ध करने में 'हंस' पत्रिका की महत्वपूर्ण भूमिका रही। उसके योगदान का अंदाजा उन तमाम संग्रहों के अध्ययन से लगाया जा सकता है, जो बाद में विभिन्न आधारों पर 'हंस' में प्रकाशित रचनाओं में से तैयार किए गए। हंस का उद्देश्य तीसरी दुनिया के संघर्षों को व्यक्त करने वाले कविताओं, कहानियों और रचनाओं को स्पेस देना है, उन्हें रेखांकित करना है। राजेन्द्र जी संपादकीय में साम्प्रदायिकता, जेण्डर, जातिवाद इन तीनों ही सवालों पर बेहद गम्भीर और स्पष्ट थे। राजेन्द्र जी ने 'हंस' के संपादकीय पृष्ठों पर जो भी लिखा वह ईमानदारी और पूरी निष्ठा के साथ लिखा। उससे हम असहमत हो सकते हैं लेकिन अपने विचारों के लिए उन्होंने खतरा उठाया और हिम्मत का काम किया, इससे असहमत होना संभव नहीं है।

ठीक उसी तरह उनकी 'काँटे की बात' श्रृंखला से इस बात का निर्णय और मूल्यांकन किया जाएगा कि उन्होंने अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिदृश्य में

किस रूप में कितनी दूर तक वैचारिक हस्तक्षेप किया। उस हस्तक्षेप की दिशा क्या और कितनी प्रभावी थी। मसलन, समाज के दो महत्वपूर्ण वर्गों उपेक्षित-शोषित से जुड़ी समस्याओं को 'स्त्री-विमर्श' और 'दलित-विमर्श' के रूप में उन्होंने बराबर जिलाए रखा। ठीक उसी तरह जैसे 'साम्प्रदायिकता' और 'धर्मान्धता' पर वे अपनी रचनाओं और संपादकीयों के माध्यम से बराबर प्रहार करते रहे। स्त्री की मुक्ति की उन्होंने जैसी देहधर्मी व्याख्या की, उससे 'नारीवादी' सोच का कितना हित-अहित हुआ, यह सवाल भी विचारणीय है। इस सबके बावजूद, इतना तय है कि लगभग सताइस वर्षों तक राजेन्द्र जी ने अपने बलबूते 'हंस' की लोकप्रियता में कमी नहीं आने दी। यह अलग बात है कि उसके पाठकों की प्रकृति हमेशा एक ही नहीं रही। इसका अंदाजा उसमें छपने वाले पत्रों से लगाया जा सकता था। सबसे दिलचस्प बात यह थी कि उनके बहुत से पाठक ऐसे भी थे जो 'हंस' की प्रतीक्षा उसमें छपने वाली कहानियों से ज्यादा उसके संपादकीय के लिए करते थे।

'हंस' गंभीरता और मेहनत से शुरू की गई थी। 'हंस' के शुरू होने से पहले कई वर्षों तक लघु पत्रिकाओं ने जो जमीन बनाई थी उसका न केवल पूरा लाभ 'हंस' को मिला था बल्कि कई क्षेत्रों में उसकी भरपाई भी हुई थी। 'हंस' में राजेंद्र जी ने जो विमर्श शुरू किए उनके महत्व से इंकार कर पाना कठिन है। इन विमर्शों का जो स्वरूप स्थापित हुआ उससे बहुत से लोग असहमत हो सकते हैं लेकिन स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक विमर्शों का महत्व तो है ही है और लगातार बढ़ता जाएगा, क्योंकि उनको 'एड्रेस' किए बिना लोकतंत्र की कल्पना नहीं की जा सकती हैं।

यह बड़ी आश्वस्त करने वाली बात है कि उन्होंने 'हंस' को आगे ले जाने की जिम्मेदारी जिन लोगों को सौंपी है उनकी निष्ठा में कोई कमी नहीं है और न ही उनकी नियत में। कई वर्षों से उनको एक ही चिंता होती थी कि 'मेरे बाद हंस का क्या होगा?'

राजेन्द्र जी के लेखकीय जीवन का निर्णायक मोड़ वह था जब उन्होंने 'हंस' का सम्पादन प्रारंभ किया। इसके पहले वे अक्षर प्रकाशन में हाथ आजमा चुके थे। 'हंस' पत्रिका प्रेमचंद के नाम से जुड़ी हुई थी। 'हंस' का सम्पादन साहसिक निर्णय था। सभी

लोगों ने 'हंस' के संपादन के भविष्य पर आशंका प्रकट की। 'हंस' के नाम को लेकर छीटाकशी हुई। राजेन्द्र यादव जी ने अपने अद्वितीय परिश्रम और लगन से वह कर दिखाया जैसा काम स्वातंत्र्योत्तर भारत की हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता में किसी ने नहीं किया था। राजेन्द्र यादव जी के पास धन-दौलत नहीं था। वे अपने लेखकीय प्रभामंडल और व्यक्तिगत व्यवहारों और हिंदी साहित्यकारों के सहयोग से, जिसके दम पर 'हंस' स्वातंत्र्योत्तर भारत की उल्लेखनीय कथा-पत्रिका बनी, जिसने अपने समय की कथा-रचना का प्रतिनिधित्व और नेतृत्व किया। साहित्यिक के योगदान की कसौटी यह है कि उसने कितने नए रचनाकारों को जन्म दिया। या फिर अल्पज्ञात रचनाकारों, लेखकों को प्रतिष्ठित किया। 'हंस' इस क्षेत्र में किसी भी पत्रिका के लिए ईर्ष्या और स्पृहा का विषय है। मैत्रेयी पुष्पा, अर्चना वर्मा, शिवमूर्ति, संजीव, संजय, उदय प्रकाश, काशीनाथ सिंह, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चौहान, अजय नावरिया आदि लोग हैं। जहाँ तक कहानी संपादन का प्रश्न है, इस क्षेत्र में उनसे बड़ा एक नाम याद आता है, भैरवप्रसाद गुप्त का। हंस के संपादकीय इतने विचारोत्तेजक और सामयिक होते थे कि उन्होंने हिंदी पट्टी में रह-रहकर वैचारिक उत्तेजना की लहरें पैदा की। 'हंस' के संपादन और प्रकाशन के बारे में राजेंद्र जी के विचार - "अपनी पत्रिका निकालने की इच्छा हर लेखक में होती है। मेरे भीतर भी थी। मैं रचनात्मक स्तर पर सक्रिय था पर पत्रिका के सम्पादन की आकांक्षा भी थी। इसलिए पत्रिका निकालने का सपना तो 'हंस' के साथ जरूर पूरा हुआ। शुरुआत भी अच्छी हुई। संयोग यह भी रहा कि अच्छे लेखकों ने मुझे शुरु में काफी सहयोग भी दिया। पर बाद का अनुभव यह रहा कि कुछ लेखक आगे चलकर 'हंस' से कटने भी लगे। जैसे अशोक वाजपेयी, निर्मल वर्मा और कुछ अन्य लेखक। ये साहित्य की सामाजिक भूमिका से परहेजकरते हैं। ये साहित्य को समाज से प्रदूषित होते देखना नहीं चाहते। पर 'हंस' ने इसे अपना विशेष दायित्व समझा। लेकिन नयी पीढ़ी आज भी 'हंस' से ही जुड़ी हुई है। नयी पीढ़ी के कई लेखकों को 'हंस' ने उभारा। जैसे सृंजय, संजीव, शिवमूर्ति, अखिलेश, उदय प्रकाश। लेखिकाओं में गीतांजलि श्री, सुरभि पाण्डेय, मैत्रेयी पुष्पा को 'हंस' ने विशेष रूप से उभारा।"12

राजेंद्र जी अंत समय तक युवा और नटखट बालक की तरह रहे। वे मूलतः प्रतिरोधी नॉन कंफर्मिस्ट थे। लेकिन उनका मन सबसे ज्यादा उल्लसित और प्रफुल्लित होता था मित्रों को छेड़ने व सत्संग से ज्यादा कुसंग में। हंस का ऑफिस अनेक प्रकार से उल्लेखनीय, उल्लेखाकांक्षी बाल, वृद्ध, युवा, लेखकों-लेखिकाओं, समीक्षकों, आलोचकों का अनेक दशकों तक अड्डा बना रहा और हिंदी साहित्य की अनेक प्रकार की चर्चाओं का प्रेरक और विषय बना रहा। यह सब राजेन्द्र जी के ही दमखम का काम था। एक पैर से लाचार राजेन्द्र जी अपनी शारीरिक अक्षमता को मानसिक क्षमता में रूपांतरित कर रखा था।

*****

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. जवाब दो विक्रमादित्य – राजेंद्र यादव, पृ.सं.-77
2. वही...पृ.सं.- 77-78
3. हंस पत्रिका – दिसंबर 2013, पृ.सं.-14
4. वही... पृ.सं.-18
5. वही... पृ.सं.-18
6. वही... पृ.सं.-18
7. मेरे साक्षात्कार – राजेंद्र यादव, पृ.सं.-191-192
8. जवाब दो विक्रमादित्य – राजेंद्र यादव, पृ.सं.-107-108
9. हंस पत्रिका – दिसंबर 2013, पृ.सं.-22
10. वही...पृ.सं.-23
11. वही...पृ.सं.-24
12. जवाब दो विक्रमादित्य – राजेंद्र यादव, पृ.सं.-73